



मूलाचार

- वट्टकेराचार्य

Index



गाथा / सूत्र	विषय
001)	मंगलाचरण
002-003)	मूलगुण के नाम
004)	महाव्रतों के नाम
005)	अहिंसा महाव्रत
006)	सत्य महाव्रत
007)	अचौर्य महाव्रत
008)	ब्रह्मचर्य महाव्रत
009)	परिग्रह महाव्रत
010)	समिति के नाम
011)	ईर्या समिति
012)	भाषासमिति
013)	एषणा समिति
014)	आदान निक्षेपण समिति
015)	प्रतिष्ठापन समिति
016)	इन्द्रिय निरोध व्रत
017)	चक्षु इन्द्रिय निरोध व्रत
018)	श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत
019)	घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत
020)	रसनेन्द्रिय निरोध व्रत
021)	स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत
022)	षट् आवश्यक क्रिया
023)	सामायिक
024)	स्तव
025)	वन्दना
026)	प्रतिक्रमण
027)	प्रत्याख्यान
028)	कायोत्सर्ग
029)	लोच मूलगुण
030)	अचेलकत्व
031)	अस्नान
032)	क्षितिशयन
033)	अदंतधावन
034)	स्थितिभोजन
035)	एकभक्त

036)	मूलगुणों का फल
037-038)	वृहत् प्रत्याख्यान अधिकार का मंगलाचरण
039)	दुश्चरित का त्याग
040-041)	उपाधि का त्याग
042)	अब्रह्मचर्य के भेद
043)	किसी के साथ बैर नहीं
044)	बैर के निमित्त
045)	स्व का ग्रहण और पर का त्याग
046)	आत्मा ही सब-कुछ
047-048)	जीव सदा अकेला
049)	समस्त संयोग सम्बन्ध का त्याग
050-051)	सामान्य से आलोचना और प्रतिक्रमण
052)	किनकी गर्हा करनी चाहिए
053)	भय और मद
054)	आसादना
055)	निंदा गर्हा और आलोचना
056)	आलोचना
057)	आलोचना किनसे करनी चाहिए
058)	क्षमायाचना
059)	मरण के भेद
060)	आराधना के अपात्र
061)	मरण काल में परिणाम बिगड़ने से गति
062)	कुमरण से सम्बंधित प्रश्न
064-068)	कन्दर्प, आभियोग्य, किल्पिषक, स्वमोह और आसुरी भावना
069-070)	बोधि की प्राप्ति में दुर्लभता और सुलभता
071)	संसार परिभ्रमण का कारण
072)	परीत संसारी
073)	बालमरण
074)	बालमरण करने वाला कैसे मरता है
075-076)	पण्डित मरण की अभिलाषा
077)	पण्डितमरण शुभ क्यों?
078)	क्षुधा तृष्णा को ऐसे जीतें
079)	तृष्णा
080)	तृष्णा का उदहारण
081-082)	कुभावना मात्र से भी कर्मों का बंध
083-084)	परिणाम शुद्धि के उपाय
085-087)	चन्द्रकवेध यन्त्र का उदाहरण
088)	निर्यापकाचार्य की आवश्यकता
124)	समाचार के लक्षण और उसके भेद
125)	औधिक समाचार के दश भेद
126-128)	दस समाचारों की परिभाषा

129)	पदविभागी समाचार की प्रतिज्ञा
130)	पदविभागी समाचार
131)	इच्छाकार कब करते हैं ?
132)	किस अपराध में मिथ्याकार होता है ?
133)	तथाकार कब कहते हैं ?
134)	निषेधिका और आसिका कब करना चाहिए ?
135)	आपृच्छा कब कहते हैं ?
136)	प्रतिपृच्छा कब करते हैं ?
137)	छन्दन समाचार कब करते हैं ?
138)	निमन्त्रणा समाचार कब करते हैं ?
139)	उपसंपत् का स्वरूप और उनके भेद बताइए ?
140)	विनयोसंपत् किस प्रकार कहते हैं ?
141)	क्षेत्रोपसंपत् का स्वरूप
142)	मार्गोपसंपत् का स्वरूप
143)	सुखदुःखोपसंपत् का स्वरूप
144)	सूत्रोपसंपत् का स्वरूप
145)	पदविभागी समाचार
146)	शिष्य गुरु से क्या पूछता है ?
147)	शिष्य मुनि अपने साथ कितने मुनियों के साथ विहार करता है ?
148)	विहार के भेद
149)	एकल विहारी साधु
150)	स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ?
151)	स्वच्छन्द प्रवृत्ति में दोष
152)	एकल विहार में और भी अनेक दोष
153)	स्वच्छंदी मुनि गुरुकुल में गच्छ में भी अन्य मुनि के साथ रहना चाहते हैं या नहीं ?
154)	एकल विहार में अन्य पापस्थान
155)	किस गुरुकुल में रहना उचित
156)	आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का स्वरूप
157)	विहार करते हुए पुस्तक या शिष्य को ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ?
158-159)	आचार्य के गुण
160)	आगतुक पर-संघ मुनि के लिए आदरविधि
161)	संघस्थ साधु और क्या करते हैं ?
162)	संघस्थ साधु किस प्रकार से और कितने दिन तक सहयोग दें ?
163)	आगन्तुक मुनि और वास्तव्य मुनि की आपस में चर्या
164)	किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ?
165)	आगन्तुक मुनि का आचार्य श्री से निवेदन
166)	आचार्य द्वारा आगन्तुक मुनि से प्रश्न
167)	उत्तर सुनकर आचार्य क्या कहते हैं ?
169-170)	अनुकूल आगन्तुक मुनि का आगे क्या करना चाहिए ?
171)	द्रव्यादि अशुद्धिपूर्वक स्वाध्याय से हानि
172)	जीव दया के निमित्त शुद्धि

173)	आगन्तुक मुनि का पर-गण में अनुशासन
174)	आगन्तुक मुनि को पर-गण में वैयावृत्ति
175)	आगन्तुक मुनि द्वारा वन्दना आदि क्रियाएँ
176)	शोधन कहाँ करना चाहिए ?
177-178)	आर्यिकाओं के साथ बोलना या बैठना है या नहीं ?
179)	तरुण आर्यिका के साथ वचनालाप में दोष
180)	आर्यिकाएं के साथ आवास आदि क्रिया में दोष
181)	आर्यिकाओं के साथ संसर्ग में दोष
182)	और भी किन-किन के साथ वार्तालाप न करें
183-184)	आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे ?
185)	गुण-रहित आचार्य द्वारा आर्यिकाओं का गणधर बनाने का निषेध
186)	परगणस्थ आगन्तुक मुनि को क्या करना चाहिए ?
187)	आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है ?
188-189)	आर्यिकाएँ वसंतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं ?
190)	आर्यिकाओं के वस्त्र कैसे होते हैं ?
191)	आर्यिकाएँ अपने आवास में कैसे रहती हैं ?
192)	आर्यिकाएँ परगृह में जा सकती हैं ?
193)	आर्यिकाओं द्वारा निषिद्ध क्रियायें
194)	आर्यिकाएँ आहार के लिए कैसे निकलती हैं ?
195)	आचार्य आदि की वन्दना आर्यिकाएँ किस प्रकार करती हैं ?
196)	समाचार पालन करने का फल
197)	ग्रंथकर्ता द्वारा निवेदन



!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-वट्टकेराचार्य-देव-प्रणीत

श्री

मूलाचार

मूल प्राकृत गाथा

आभार : आ. ज्ञानमती

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं,
पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीमूलाचार नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः
श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य
श्रीवट्टकेराचार्यदेव विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

+ मंगलाचरण -

मूलगुणेषु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा
इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥१॥

अन्वयार्थ : [मूलगुणेषु विसुद्धे] मूलगुणों द्वारा विशुद्ध [सव्वसंजदे] सभी संयतों को [सिरसा] सर से (झुकाकर) [वंदित्ता] नमस्कार करके [इहपरलोगहिदत्थे] इस और पर लोक के लिए हितकर [मूलगुणे] मूल गुणों का [कित्तइस्सामि] वर्णन करूँगा ।

+ मूलगुण के नाम -

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्धिट्ठा
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥२॥
आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

अन्वयार्थ : [पंचय महव्वयाइं] पांच ही महाव्रत, [समिदीओ पंच] पांच ही समितियां और [पंचेविंदियरोहा] पांच ही इन्द्रिय निरोध, [छप्पि च आवासया] छह ही आवश्यक, [लोओ] लोंच, [आचेलकमण्हाणं] आचेलक्य, अस्त्रान [खिदिसयणमदंतघंसणं चेव] क्षितिशयन अदंतधावन, [ठिदिभोयेणभत्तं] स्थिति भोजन, और एक भक्त [मूलगुणा अट्ठवीसा दु] ये २८ मूलगुण [जिणवरुद्धिट्ठा] जिनेन्द्र देव ने बताये हैं ।

+ महाव्रतों के नाम -

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पञ्च पण्णत्ता ॥४॥

अन्वयार्थ : [हिंसाविरदी] हिंसा का त्याग, [सच्चं] सत्य, [अदत्तपरिवज्जणं] चोरी का त्याग, [बंभं च] और ब्रह्मचर्य [संगविमुत्ती य] और परिग्रह-त्याग [तहा महव्वया पंच पण्णत्ता] ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं ।

+ अहिंसा महाव्रत -

कायेंदियगुणमग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥

अन्वयार्थ : [कायेंदियगुणमगण] काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास, [कुलाउजोणीसु] कुल, योनि द्वारा [सव्वजीवाणं] सभी जीवों का स्वरूप जानकर [ठाणादिसु] बैठना आदि (उठना, सोना, गमन करना, भोजन करना, हाथ पांव फैलाना, संकुचित करना वगैरह क्रिया-विशेष) में [हिंसादिविवज्जणमहिंसा] हिंसा को छोड़ना अहिंसा महाव्रत है ।

+ सत्य महाव्रत -

**रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्तिं
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥**

अन्वयार्थ : [रागादीहिं असच्चं चत्ता] रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और [परतावसच्चवयणुत्तिं] पर को ताप करने वाले सत्य वचनों के भी कथन का त्याग करना तथा [सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं] सूत्र और अर्थ के कहने में अयथार्थ वचनों का त्याग करना [सच्चं] सत्य महाव्रत है ।

+ अचौर्य महाव्रत -

**गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परणे संगहिदं
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तुं ॥७॥**

अन्वयार्थ : [गामादिसु पडिदाइं] ग्राम आदिक में पड़ा हुआ, [अप्पप्पहुदिं] भूला हुआ, रखा हुआ इत्यादि रूप से अल्प भी स्थूल सूक्ष्म वस्तु को [परणे संगहिदं] दूसरे के द्वारा इकट्ठा किया हुआ ऐसे [णादाणं परदव्वं] पर-द्रव्य को ग्रहण नहीं करना [अदत्तपरिवज्जणं तं तुं] वह अदत्तत्याग (अचौर्य महाव्रत) है ।

+ ब्रह्मचर्य महाव्रत -

**मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्थियं च पडिरूवं
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥८॥**

अन्वयार्थ : [मादुसुदाभगिणीव य] वृद्धा, बाला, यौवनवाली स्त्री को देखकर अथवा उनकी तस्वीरों को देखकर [दट्ठूणित्थित्थियं च पडिरूवं] उनको माता-पुत्री-बहन समान समझ [इत्थिकहादिणियत्ती] स्त्री-सम्बन्धी कथादि का अनुराग छोड़ना, [तिलोयपुज्जं हवे बंभं] वह तीनों लोकों का पूज्य ब्रह्मचर्य (महाव्रत) है ।

+ परिग्रह महाव्रत -

**जीव णिबद्धाबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव
तेसिं सक्कच्चाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ॥९॥**

अन्वयार्थ : [जीवणिबद्धाबद्धा परिग्गहा] जीव के आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा [जीवसंभवा चेव] चेतन व अचेतन परिग्रह इत्यादि का [तेसिं सक्कच्चाओ] शक्ति प्रगट करके त्याग, [इयरम्हि य] तथा इनसे इतर जो संयम, ज्ञान, शौच के उपकरण इनमें [णिम्मओऽसंगो] ममत्व का न होना परिग्रह-त्याग (महाव्रत) है ।

+ समिति के नाम -

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ
पदिठावणिया य तहा उच्चारदीण पंचविहा ॥१०॥

अन्वयार्थ : [इरिया] ईर्या, [भासा] भाषा, [एसण] एषणा, [णिक्खेवादाणमेव] आदान निक्षेपण और [पदिठावणिया] (मल-मूत्रादि का) प्रतिष्ठापन ये [पंचविहा] पाँच प्रकार की ही [समिदीओ] समितियाँ हैं।

+ ईर्या समिति -

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥११॥

अन्वयार्थ : [फासुयमग्गेण] प्रासुक मार्ग से [दिवा] दिन में [जुंगतरप्पेहिणा] चार हाथ प्रमाण देखकर [सकज्जेण] अपने कार्य के लिए [जंतूणि] एकेंद्रियादि प्राणियों को [परिहरं] पीड़ा नहीं देते हुए संयमी का [हवे गमणं] जो गमन है [तेणिरियासमिदी] वह ईर्यासमिति है। ।

+ भाषासमिति -

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पपसंसविकहादी
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ॥१२॥

अन्वयार्थ : [पेसुण्ण] पैशून्य, [हास] हँसी, [क्कस] कठोरता, [परणिंदाप्पपसंस] परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और [विकहादी] विकथा आदि को [वज्जित्ता] छोड़कर [सपरहियं] अपने और पर के लिए [भासासमिदी] भाषा समिति [हवे कहणं] पूर्वक बोलना है।

+ एषणा समिति -

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी ॥१३॥

अन्वयार्थ : [छादालदोससुद्धं] उद्गम, उत्पादन, आदि छियालीस दोषों से रहित शुद्ध, [कारणजुत्तं] कारण (असाता / भूख) से सहित, [विसुद्धणवकोडी] नवकोटि से विशुद्ध और [सीदादीसमभुत्ती] शीत उष्ण आदि में समान भाव से आहार ग्रहण करना [परिसुद्धा] निर्मल [एसणासमिदी] एषणा समिति है।

+ आदान निक्षेपण समिति -

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणिक्खेवा ॥१४॥

अन्वयार्थ : [णाणुवहिं] ज्ञान के उपकरण, [संजमुवहिं] संयम के उपकरण, [सउचुवहिं] शौच का उपकरण अथवा [अण्णमप्पमुवहिं] अन्य उपकरणों को भी [पयदं गहणिक्खेवो]

प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना [मिदी आदाणिक्खेवा] आदान निक्षेपण समिति है ।

+ प्रतिष्ठापन समिति -

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे
उच्चरादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१५॥

अन्वयार्थ : [एगंते] एकांत, [अच्चित्ते] अचित (जीव-जन्तु रहित), [दूरे] दूर-स्थित, [गूढे] गूढ़ (मर्यादित), [विसालमविरोहे] विशाल (विस्तीर्ण) और विरोध-रहित स्थान में [उच्चरादिच्चाओ] सावधानी पूर्वक मल-मूत्रादिक का विसर्जन [पदिठावणिया] प्रतिष्ठापन [हवे समिदी] समिति है।

+ इन्द्रिय निरोध व्रत -

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥१६॥

अन्वयार्थ : [चक्खू] चक्षु, [सोदं] कर्ण, [घाणं] घ्राण, [जिब्भा] जिह्वा [फासं च] और स्पर्शन इन [इंदिया पंच] पाँच इन्द्रियों को [सगसगविसएहिंतो] अपने विषय में [मुणिणा] मुनियों का [सया] हमेशा [णिरोहियव्वा] नियंत्रण इन्द्रिय निरोध व्रत है ।

+ चक्षु इन्द्रिय निरोध व्रत -

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणा ॥१७॥

अन्वयार्थ : [सच्चित्ताचित्ताणं] सचेतन और अचेतन पदार्थों की [किरियासंठाणवण्णभेएसु] क्रिया, चित्रकर्म आदि संस्थान और वर्ण के भेदों में [मुणिणा] मुनिराज के जो [रागादिसंगहरणं] राग द्वेष आदि संग का त्याग है वह [चक्खुणिरोहो हवे] चक्षुनिरोध व्रत होता है।

+ श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत -

सड्जादि जीवसद्धे वीणादिअजीवसंभवे सद्धे
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥१८॥

अन्वयार्थ : [सड्जादि जीवसद्धे] षड्ज आदि जीव शब्द और [वीणादिअजीवसंभवे सद्धे] वीणा आदि से उत्पन्न हुए अजीव शब्द ये सभी [रागादीण णिमित्ते] राग द्वेष के हेतु हैं [तदकरणं] इनका नहीं करना [सोदरोधो दु] श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत है ।

+ घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत -

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे
रागद्धेसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीवप्पगे] जीव और अजीव स्वरूप [सुहे असुहे] सुख और दुःख रूप [पयडीवासणगंधे] प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गन्ध में जो [रागद्वेसाकरणं] राग-द्वेष का नहीं करना है वह [मुणिवरस्स] मुनियों का [घाणणिरोहो] घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत है।

+ रसनेन्द्रिय निरोध व्रत -

**असणादिचटुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥२०॥**

अन्वयार्थ : [असणादिचटुवियप्पे] अशन आदि से चार भेदरूप, [पंचरसे] पंच रसयुक्त, [फासुगम्हि] प्रासुक, [णिरवज्जे] निर्दोष, [दत्ते] पर के द्वारा दिये गये [इट्ठाणिट्ठाहारे] रूचिकर अथवा अरुचिकर आहार में [जिब्भाजओऽगिद्धी] लम्पटता का नहीं होना रसनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

+ स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत -

**जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥२१॥**

अन्वयार्थ : जीव (स्त्री आदि) के निमित्त से और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दुःख रूप स्पर्श में मोह रागादि नहीं करना स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

+ षट् आवश्यक क्रिया -

**समदा थवो य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादव्वं
पच्चक्खाणं विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥**

अन्वयार्थ : सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस प्रकार छह आवश्यक हैं। जो कि निश्चय क्रियाएँ अर्थात् नियम से करने योग्य हैं।

+ सामायिक -

**जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥२३॥**

अन्वयार्थ : जीवन मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में, सुख-दुःख इत्यादि में समभाव होना सामायिक नाम का व्रत है।

+ स्तव -

**उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च
काऊण अच्चिट्ठण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥२४॥**

अन्वयार्थ : ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकरों के नाम की निरुक्ति के अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणों को प्रगट करना, उनके चरणों को पूजकर मन-वचन-काय की शुद्धता से स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं ।

+ वन्दना -

**अरहंतसिद्ध पडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥२५॥**

अन्वयार्थ : कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना अर्थात् सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्व कायोत्सर्ग आदि के द्वारा मन-वचन काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है। अर्हंत-सिद्धों की प्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा में अपने से बड़े गुरु-इन सबका कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के नमस्कार मात्र करके मन वचन काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह वन्दना नाम का मूलगुण कहलाता है।

+ प्रतिक्रमण -

**दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं
णदणगरहजुत्तो मणवचकाएण पडिक्कमणं ॥२६॥**

अन्वयार्थ : अपनी सीमा का उल्लंघन करके अतिक्रमण किया था। वापसी अपने स्वस्थान में आना प्रतिक्रमण है। निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन वचन काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादिकों के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधों का जो शोधन करते हैं उसका नाम प्रतिक्रमण है।

+ प्रत्याख्यान -

**णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥२७॥**

अन्वयार्थ : अनागत आगत काल में आने वाले नाम, स्थापना आदि छहों अयोग्य का मन वचन काय से वर्जन करना प्रत्याख्यान कहलाता है।

+ कायोत्सर्ग -

**देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि
जिणगुणिंचतजुत्तो काउस्सग्गो तणुविसग्गो ॥२८॥**

अन्वयार्थ : दैवसिक आदि नियमों में, शास्त्र में कथित समयों में जो जिनेन्द्र-देव के गुणों के चिन्तन सहित, शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है, उसका नाम कायोत्सर्ग है।

+ लोच मूलगुण -

**वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥२९॥**

अन्वयार्थ : प्रतिक्रमण सहित दिवस में, दो तीन या चार मास में उत्तम मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवासपूर्वक ही करना चाहिए। लोच मौनपूर्वक कहते हैं।

+ अचेलकत्व -

**वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं
णिब्भूसणं णिगंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥**

अन्वयार्थ : वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष जगत में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है।

+ अस्नान -

**ण्हाणादिवज्जणेण ये विलित्तजल्लमलसदेसव्वंगं
अण्हाणं घोर गुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ॥३१॥**

अन्वयार्थ : स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाता है। स्नान नहीं करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है तथा प्राणियों को बाधा नहीं पहुँचने से प्राणी संयम भी पलता है।

+ क्षितिशयन -

**फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथादिदम्हि पच्छण्णे
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥३२॥**

अन्वयार्थ : जीवबाधारहित, अल्पसंस्तर रहित, असंयमी के गमनरहित गुप्तभूमि के प्रदेश में दण्ड के समान अथवा धनुष के समान एक कर्वट से सोना क्षितिशयन मूलगुण है।

+ अदंतधावन -

**अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥३३॥**

अन्वयार्थ : अंगुली, नख, दांतों और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना यह संयम की रक्षारूप अदन्तधावन व्रत है।

+ स्थितिभोजन -

**अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपायं
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥३४॥**

अन्वयार्थ : दीवाल आदि का सहारा न लेकर, जीव-जन्तु से रहित, स्थान की भूमि निरीक्षण करके समान पैर रखकर खड़े होकर, दोनों हाथ की अंजुलि बनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है।

+ एकभक्त -

**उदयत्यमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि
एक्कम्हि दुअ तिए वा मुहत्तकालेयभत्तं तु ॥३५॥**

अन्वयार्थ : सूर्योदय के बाद तीन घड़ी और सूर्योस्त के पहले तीन घड़ी काल को छोड़कर शेषकाल के मध्य में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त पर्यन्त जो एक बार आहार ग्रहण है वह एकभक्त नाम का व्रत है।

+ मूलगुणों का फल -

**एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लभइ मोक्खं ॥३६॥**

अन्वयार्थ : मूलगुणों को मन वचन काय से पालन करके मनुष्य जगत में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

+ बृहत् प्रत्याख्यान अधिकार का मंगलाचरण -

**सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥३७॥
णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं
संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं ॥३८॥**

अन्वयार्थ : आठ गुण सहित सिद्धों को, नव केवल लब्धि युक्त अरिहंतों को, केवलज्ञान की ऋद्धि जिनको प्राप्त हुई है ऐसे महर्षियों को नमस्कार किया है । आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन तीन कालों में यदि मरण उपस्थित हो तो मुनि संस्तर का आश्रय लेते हैं ।

+ दुश्चरित का त्याग -

**जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥३९॥**

अन्वयार्थ : जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित है उस सभी का मैं मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ और सभी तीन प्रकार की सामायिक को निर्विकल्प करता हूँ । इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं ।

+ उपाधि का त्याग -

सरीराइं च सभोयणं
मणसा वचि काएण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४०॥
सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥४१॥

अन्वयार्थ : बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का, शरीर आदि का और भोजन आदि का मन वचन काय से और कृत कारित अनुमोदना से त्याग करते हैं । सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा स्वरूप परिग्रह का भी त्याग करते हैं ।

+ अब्रह्मचर्य के भेद -

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि
आसा वोसरित्ताणं समाहिं वडिवज्जए ॥४२॥

अन्वयार्थ : मेरा सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है । सम्पूर्ण आशा को छोड़कर इस समाधि को स्वीकार करता हूँ ।

+ किसी के साथ बैर नहीं -

खमामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे
मिक्खी मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥४३॥

अन्वयार्थ : समाधि धारक सोचता है सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है ।

+ बैर के निमित्त -

रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं
उस्सुगतं भयं सोगं रदिमरिंद च वोसरे ॥४४॥

अन्वयार्थ : राग का अनुबंध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति इन सब वैर के निमित्तों का समाधि धारक त्याग करता है ।

+ स्व का ग्रहण और पर का त्याग -

ममिंत्त परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

अन्वयार्थ : मैं ममत्व को छोड़ता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मैं अन्य सभी का त्याग करता हूँ ।

+ आत्मा ही सब-कुछ -

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोए ॥४६॥

अन्वयार्थ : निश्चित रूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चरित्र में है, प्रत्याख्यान में है और मेरा आत्मा ही संवर तथा योग में है । स्वभाव का, स्वरूप का त्याग नहीं होता, विभाव का त्याग होता है ।

+ जीव सदा अकेला -

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥४७॥
एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

अन्वयार्थ : जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है । एक जीव के ही यह जन्म और मरण है और अकेला ही कर्म रहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है । मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है । शेष सभी संयोग लक्षण वाले जो भाव हैं वह मेरे से बहिर्भूत हैं ।

+ समस्त संयोग सम्बन्ध का त्याग -

संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं
तम्हा संजोय संबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४९॥

अन्वयार्थ : इस जीव ने संयोग के निमित्त से दुःखों के समूह को प्राप्त किया है इसलिए मैं समस्त संयोग सम्बन्ध को मन वचन काय पूर्वक छोड़ता हूँ ।

+ सामान्य से आलोचना और प्रतिक्रमण -

मूलगुण उत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥५०॥
अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममित्तं
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥५१॥

अन्वयार्थ : मैंने मूलगुण और उत्तरगुणों में प्रमाद से जिस किसी की आराधना नहीं की है उस सम्पूर्ण की मैं निन्दा करता हूँ और भूत वर्तमान ही नहीं भविष्य में आने वाले का भी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक सम्पूर्ण ममत्व-उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ और उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ।

+ किनकी गर्हा करनी चाहिए -

सत्त भय अट्ट मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि
तेत्तीसाच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥५२॥

अन्वयार्थ : सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गारव, तैंतीस आसादना तथा राग और द्वेष इन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ।

+ भय और मद -

इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकम्हिभया
विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया ॥५३॥

अन्वयार्थ : इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ये सात भय हैं । विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप, जाति इनके निमित्तक आठ मद हैं ।

+ आसादना -

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच
पवयणमाउपयत्था तेत्तीसच्चासणा भणिया ॥५४॥

अन्वयार्थ : आसादनायें ३३ होती हैं । पाँच अस्तिकाय-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश पृथ्वीकायिक आदि छः जीव निकाय, पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचन मातृका । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप से नव पदार्थ हैं। इस प्रकार ये तैंतीस आसादनायें हैं ।

+ निंदा गर्हा और आलोचना -

णदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं
आलेचेमि य सव्वं सभ्भंतरबाहिरं उवहिं ॥५५॥

अन्वयार्थ : आत्म संस्कार काल से संन्यास काल तक को आलोचना के लिए क्षपक आलोचना करते हैं-जो उपधि और परिग्रह निन्दा करने योग्य हैं उनकी मैं निन्दा करता हूँ, जो गर्हा करने योग्य हैं उनकी गर्हा करता हूँ और समस्त बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करके अपने से दूर करता हूँ ।

+ आलोचना -

जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जयुं भणदि
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥५६॥

अन्वयार्थ : जैसे बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य, अच्छे और बुरे सभी को कह देता है उसी प्रकार से माया भाव का अभाव और असत्य को छोड़कर आलोचना करनी चाहिए ।

+ आलोचना किनसे करनी चाहिए -

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि अकंपो
धीरो आगमकुसलो अपरिस्साई रहस्साणं ॥५७॥

अन्वयार्थ : जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों में भी अविचल हैं, धीर हैं, आगम में निपुण हैं, और रहस्य अर्थात् गुप्त दोषों को प्रकट नहीं करने वाले हैं वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य हैं ।

+ क्षमायाचना -

रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हयं पमादेण
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥५८॥

अन्वयार्थ : जो मैंने राग से अथवा द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ ।

+ मरण के भेद -

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥५९॥

अन्वयार्थ : मरण के तीन भेद हैं-बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते हैं । इनका मरण बालमरण है । संयतासंयत जीव बालपण्डित कहलाते हैं क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के वध से विरत न होने से ये बात हैं और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के वध से विरत होने से पण्डित हैं इसलिए इनका मरण बालपण्डित मरण है । पण्डितों के मरण अर्थात् देह परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना पण्डितमरण है जिसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारी केवली भगवान मरण करते हैं ।

+ आराधना के अपात्र -

जे पुण पणट्टमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥६०॥

अन्वयार्थ : जो पुनः नष्ट बुद्धि वाले हैं, जिनकी आहार आदि संज्ञाएँ उत्कट हैं और जो कुटिल परिणामी हैं वे असमाधि से मरण करते हैं । निश्चित रूप से वे आराधक नहीं कहे गये हैं ।

+ मरण काल में परिणाम बिगड़ने से गति -

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

अन्वयार्थ : मरण की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है । भवन, व्यंतर ज्योतिष्कादि देवों में जन्म लेते हैं तथा निश्चितरूप से बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है और फिर आगामी काल में उस जीव का संसार अनन्त हो जाता है ।

का देवदुर्गाईओ का बोही केण व बुज्झए मरणं केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीवो ॥६२॥

अन्वयार्थ : देव दुर्गति का क्या लक्षण है ? बोधि का क्या स्वरूप है ? किस परिणाम से मरण नहीं जाना जाता है ? तथा किन कारणों से यह जीव, जिसका पार पाना कठिन है ऐसे अपार संसार में भ्रमण करता है ?

+ कन्दर्प, आभियोग्य, किल्बिषक, स्वमोह और आसुरी भावना -

असत्तमुल्लावेंतो पण्णावेंतो य बहुजणं कुणइं
कंदप्पं रइसमावण्णो कंदप्पेसु उववज्जइ ॥६४॥
अभिजुंजइ बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु उववज्जई ॥६५॥
तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स
अविणीदो णियडिल्लो किव्विसियेसूववज्जेई ॥६६॥
उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य
मोहेण य मोहंतो संमोहेसूववज्जेदि ॥६७॥
खुद्धी कोही माणी माई तह संकलिट्ठो तवे चरित्ते य
अणुबद्धवेररोई असुरेसुव्वज्जदे जीवो ॥६८॥

अन्वयार्थ : जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है तो वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है । जो साधु अनेक प्रकार के भावों का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्म से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवों में उत्पन्न होता है । जो तीर्थकरों के प्रतिवृत्त है, संघ, जिनप्रतिमा और सूत्र के प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्बिषक जाति के देवों में जन्म लेता है ।

जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग के विघातक तथा विरोधी है । वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र में संक्लेश रखने वाला है, जो वैर को बाँधने में रूचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।

+ बोधि की प्राप्ति में दुर्लभता और सुलभता -

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥

**सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही ॥७०॥**

अन्वयार्थ : जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान सहित और कृष्ण लेश्या से मरण करते हैं उनके लिए बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है । जो सम्यग्दर्शन में तत्पर हैं, निदान भावना से रहित हैं और शुक्ल लेश्या से परिणत हैं ऐसे जो जीव मरण करते हैं उनके लिए बोधि सुलभ है ।

+ संसार परिभ्रमण का कारण -

**जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥७१॥**

अन्वयार्थ : जो साधु गुरुओं की आज्ञा नहीं पालते हैं, मोही हैं, अतिचार सहित चारित्र पालते हैं, कुत्सित आचरण वाले हैं वे असमाधि से मरण करते हैं और अनन्त संसारी हो जाते हैं ।

+ परीत संसारी -

**जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥**

अन्वयार्थ : जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी है, भाव से गुरु आज्ञा का पालन करते हैं, अतिचार रहित हैं तथा संक्लेशभाव रहित हैं वे संसार का अंत करने वाले होते हैं ।

+ बालमरण -

**बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मणाणि
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥**

अन्वयार्थ : जो जिनवचन को नहीं जानते हैं वे बेचारे अनेक बार बालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित बाल-बाल मरणों से मरण करते रहेंगे ।

+ बालमरण करने वाला कैसे मरता है -

**सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि ॥७४॥**

अन्वयार्थ : शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेश कर मरना और पाप क्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण-जन्म और मृत्यु की परम्परा को करने वाले बाल-बाल मरण हैं ।

+ पण्डित मरण की अभिलाषा -

**उड्ढमधो तिरियाहि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७५॥**

उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७६॥

अन्वयार्थ : ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग् लोक में मैंने बहुत बार बालमरण किये हैं अब मैं दर्शन और ज्ञान से सहित होता हुआ पण्डित मरण से मरूँगा । उद्वेग पूर्वक मरण, जन्मते ही मरण और जो नरकों की वेदनाएँ हैं इन सबका स्मरण करते हुए अब मैं पण्डित मरण से प्राण त्याग करूँगा ।

+ पण्डितमरण शुभ क्यों? -

एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥७७॥

अन्वयार्थ : एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मों का नाश कर देता है अतः ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे ।

+ क्षुधा तृषा को ऐसे जीतें -

जइ उप्पज्जइ दुःखं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरए कदमं मए ण पत्तं संसारे संसरंतेण ॥७८॥

अन्वयार्थ : यदि असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख उत्पन्न होता है तो नरक के स्वरूप का अवलोकन मन से करना चाहिए । जिससे भूख आदि वेदनाओं से धैर्य च्युत नहीं होता है ।

+ तृष्णा -

संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला बहुसो आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तिच्ची ॥७९॥

अन्वयार्थ : चतुर्गति के जन्म मरण रूप भँवर में मैंने सभी पुद्गल वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण किया है, खलभाग रसभाग रूप से परिणमाया भी है, अर्थात् उन्हें जीर्ण भी किया है किन्तु आज तक उनसे मुझ तृप्ति नहीं हुई, प्रत्युत आकांक्षाएँ बढ़ती ही गयी है ।

+ तृष्णा का उदहारण -

तिणकट्टेण व अग्गी लवणसमुद्धो णदीसहस्सेहिं ण इमो जीवो सक्को तिप्पेटुं कामभोगेहिं ॥८०॥

अन्वयार्थ : जैसे अग्नि तृण और लकड़ियों के समूह से तृप्त नहीं होती है । जैसे हजारों नदियों से लवण समुद्र तृप्त नहीं होता उसी प्रकार से इच्छित सुख के साधनभूत आहार, स्त्री, वस्त्र आदि काम भोगों से इस जीव को संतुष्ट करना शक्य नहीं है ।

+ कुभावना मात्र से भी कर्मों का बंध -

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ॥८१॥
आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तिंम पुढिंव
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ॥८२॥

अन्वयार्थ : आकांक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगों में मूर्च्छित होता हुआ, भोगों को नहीं भोगता हुआ भी परिणाम मात्र से कर्मों के द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है । स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य के कर्ण में तन्दुल मत्स्य होते हैं जो कि तन्दुल के समान ही लघु शरीर वाले हैं । वे मत्स्य आदि जन्तु महामत्स्य के मुख में प्रवेश करते हुए और निकलते हुए तमाम जीवों को देखते हैं तो सोचते रहते हैं कि यदि मेरा बड़ा शरीर होता तो मैं इन सबको खा लेता, एक को भी नहीं छोड़ता किन्तु वे खा नहीं पाते हैं। तथापि इस भावना मात्र से पाप बन्ध करते हुए वे तंदुल मत्स्य जीव भी सातवें नरक में चले जाते हैं ।

+ परिणाम शुद्धि के उपाय -

पुव्वं कदपरियम्मो अणिदाणो ईहिदूण मदिबुद्धी
पच्छा मलिदकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छाहि ॥८३॥
हंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिबडंति ॥८४॥

अन्वयार्थ : पूर्व में कहे हुए कन्दर्प आदि भावना रूप या सदोष आहार की इच्छा रूप विपरीत परिणाम से जीव नरक में चला जाता है इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वारा आगम में जो कहा गया है उसका निश्चय करके पहले तपश्चरण का अनुष्ठान करो । पुनः निदान भाव रहित होते हुए तथा कषायों का त्याग करते हुए तुम इस समय कृतकृत्य होकर समाधिमरण का अनुष्ठान करो । जिन्होंने चिरकाल तक अभ्यास किया है ऐसे पुरुष भी मरण के देश-काल में पूर्व में किये गये कर्मों के भार से पुनः च्युत हो जाते हैं ।

+ चन्द्रकवेध्य यन्त्र का उदाहरण -

तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गमि ॥८५॥
कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा
एदाविय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ॥८६॥
सायरगो बल्लहगो कुलदत्तो वडुमाणगो चेव
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥८७॥

अन्वयार्थ : चंद्रकवेध यंत्र को वेधने के लिए खूब अभ्यास करना पड़ता है । ऐसे चंद्रक वेध्य के लिए उद्युक्त हुए वीर पुरुष यंत्र की तरफ एकाग्र चित्त होकर उसको विद्ध करने में सफल

होता है, वैसे ही सल्लेखना मरण के लिए उद्युक्त हुआ क्षपक ज्ञानदर्शन चारित्रादि में स्थिर रहेगा तभी समाधिमरण कार्य में सफल होगा ।

उदा. मिथिला नगरी में महेन्द्र दत्त नामक पुरुष ने सागरक, वल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक ऐसे चार पुरुषों को चंद्रकवेध्य के समय मारा था । तथा उसी ने ही उसी नगरी में कनकलता, नागलता, विद्युलता और कुंदलता इन स्त्रियों को मारा था उसी प्रकार मुनि भी समाधिमरण के समय यत्न करके क्रोधादि कषायों का नाश करें ।

+ निर्यापकाचार्य की आवश्यकता -

**जह णिज्जावयरहिया णावाओ वररदण सुपुण्णाओ
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमला णिबुड्ढंति ॥८८॥**

अन्वयार्थ : जैसे उत्तम रत्नों से भी हुई नौकाएँ नगर के समीप किनारे पर आकार भी, कर्णधार के अभाव में प्रमाद के कारण नौकाएँ डूब जाती हैं वैसे क्षपक रूपी नौकाएँ भी रत्नत्रय रूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं । संन्यास रूपी पत्तन-किनारे तक आ चुकी हैं फिर भी निर्यापकाचार्य के अभाव में प्रमाद से वे क्षपकरूपी नौकाएँ संसार समुद्र में डूब जाती हैं अतः सावधानी रखनी चाहिए ।

**बाहिर जोग विरहिओ अब्भंतरजोग झाणमालीणो
तह तम्हि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥८९॥**

अन्वयार्थ : अभ्रावकाश, आतापन और वर्षायोग इन योगों को बाह्ययोग कहते हैं । हिमकाल में नदी के तट समीप ध्यानस्थ होकर शीतपरीषह सहन करना अभ्रावकाश योग है । गर्मी के दिनों में पर्वत के शिलापर ध्यान में निमग्न रहना आतापन योग है तथा वर्षाकाल में झाड़ के नीचे ध्यान करना वर्षायोग अथवा वृक्षमूलयोग है । संन्यास काल में इन योगों से तपश्चरण करने का सामर्थ्य क्षपक में नहीं रहता है । ऐसी परिस्थिति में वह क्षपक अपने आत्मा के स्वरूप का चिंतन करते हुए जो ध्यान होता है वह आभ्यन्तर योग है । इन योग का आश्रय लेकर क्षपक आहारादि संज्ञाओं का त्याग करके देह को छोड़े ।

**हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्टकम्मसंखलियं
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥९०॥**

अन्वयार्थ : हे क्षपक ! जब तुम आहारादि संज्ञा से रहित होकर राग द्वेष का त्याग करोगे तब तुम्हारे ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की शृंखला टूट जाने से जन्म करण रूपी अरहट भी नष्ट होगा जिससे तुम संसार भ्रमण से मुक्त होकर नित्य सुखी होगे ।

**सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्वहामि तिविहेण
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥९१॥**

अन्वयार्थ : जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्पूर्ण इस उपदेश का मन वचन काय से श्रद्धान करता हूँ । यह निर्वाण मार्ग का सार है और त्रस तथा स्थावर जीवों का क्षेम-सुख करने वाला है ।

**ण हि तम्हि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो
सब्बो अणुचिंतेटुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥९२॥**

अन्वयार्थ : समाधि काल में सम्पूर्ण द्वादशांग ज्ञानरूपी श्रुतवृक्ष का चिंतन करना अर्थात् उसके अर्थ की भावना करना और उसका पठन करना शरीर बल युक्त ऐसे क्षपक को भी अशक्य है । यद्यपि उसका शरीर बल युक्त हो और मन भी एकाग्र हो तो भी समस्त श्रुतज्ञान का चिन्तन शरीर त्याग के समय होना अशक्य है ।

**एक्कहि बिदियहि पदे संवेगो वीयराय मग्गम्मि
वच्चदिणरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥९३॥**

अन्वयार्थ : 'नमोऽर्हद्भ्यः' नमः सिद्धेभ्यः इन दोनों नमस्कार पदों को मरणसमय में क्षपक को विस्मरण न हो तथा सर्वसंग परित्याग किये हुए क्षपक को वीतराग मार्ग का प्रतिपादन करने वाले जिनागम में अतिशय हर्ष रखना चाहिए । कंठगत प्राण होने पर भी 'ऊँ-हीं' आदि बीजाक्षर पदों का चिंतन करते करते प्राण त्याग करना चाहिए ।

**एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालहि
आराहणउवजुत्तो चिंतंतो आराधओ होदि ॥९४॥**

अन्वयार्थ : आराधना में लगा हुआ साधु मरण के काल में इस श्रुत समुद्र से एक भी श्लोक का, पद का चिन्तन करता हुआ आराधक हो जाता है ।

**जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सब्बदुक्खाणं ॥९५॥**

अन्वयार्थ : विषय सुख का विरेचन कराने वाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषध हैं । ये जरा मरण और व्याधि से होने वाली वेदना को तथा सर्व दुःखों को नष्ट करने वाले हैं ।

**णाणं सरणं मे दंसणं च सरणं चरियसरणं च
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥९६॥**

अन्वयार्थ : मरण समय में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये ही मेरे रक्षक हैं और इनके उपदेष्टा भगवान महावीर ही मेरे रक्षक हैं ।

**आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं
उक्कस्सं तिणिण भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ॥९७॥**

अन्वयार्थ : आराधना में तत्पर हुआ साधु आगम में कथित सम्यक्-प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को पाकर पुनः निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥९८॥
लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयण सुभासिदं अमिदभूदं
गहिदो सुगइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥९९॥

अन्वयार्थ : पहला तो मेरा श्रमण यह रूप है और दूसरा सभी जगह मेरा संयत-संयमित होना यह रूप है इसलिए संक्षेप से कहे गये इन सभी अयोग्य का मैं त्याग करता हूँ । जिनको पहले कभी प्राप्त नहीं किया था। ऐसे अलब्धपूर्ण, अमृतमय, जिनवचन सुभाषित को मैंने अब प्राप्त किया है । अब मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है इसलिए अब मैं मरण से नहीं डरता हूँ ।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥१००॥
सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं
जइ दोहिं वि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥१०१॥

अन्वयार्थ : धीर वीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है । यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है शीलयुक्त को भी मरना पड़ता है और शील रहित को भी मरना पड़ता है यदि दोनों को ही मरना पड़ता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है ।

चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गिंद जादि ॥१०२॥

अन्वयार्थ : चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक साधु शेष कर्म को दूर करके क्रम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है ।

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो
अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होज ॥१०३॥
णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हबे ॥१०४॥

अन्वयार्थ : जो ममत्व रहित, अहंकार रहित, कषाय रहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है। जो कषाय रहित है । इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूर है, पुरुषार्थी है और संसार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ।

**एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥१०५॥**

अन्वयार्थ : धैर्यवान्, आहार, भय, आदि संज्ञाओं में लम्पटता रहित जो साधु मरण के समय उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करते हैं वे उत्तम अर्थात् निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ।

**वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाण संपण्णो
लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदुबोधिं ॥१०६॥**

अन्वयार्थ : वीर भगवान् ज्ञान, दर्शन, चारित्र से सम्पन्न हैं लोक का उद्योत करने वाले हैं, जरा-मरण को नष्ट करने वाले हैं, ऐसे हे वर्धमान भगवान् मुझे बोधि-समाधि प्रदान करें ।

**जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥१०७॥**

अन्वयार्थ : हे भगवान्, जो गति अर्हंतों की, सिद्धों की और क्षीणकषायी जीवों की होती है वही गति मेरी हमेशा होवें और मैं कुछ भी आपसे नहीं माँगता हूँ ।

**एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥१०८॥**

अन्वयार्थ : यह मैं, जिनवर में प्रधान ऐसे वर्धमान भगवान् को, शेष सभी तीर्थकरों को और गणसहित सभी गणधर देवों को प्रणाम करता हूँ ।

**सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च
सव्वमदत्तादाणं मेहूणपरिग्रहं चेव ॥१०९॥**

अन्वयार्थ : सम्पूर्ण प्राणिहिंसा को, असत्य वचन को, सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण और मैथुन तथा परिग्रह को भी मैं छोड़ता हूँ ।

**सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणइ
आसाए वोसरित्ताणं समाधिं पडिवज्जए ॥११०॥**

**सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य
सव्वं चेय ममिंत जहामि सव्वं खमावेमि ॥**

अन्वयार्थ : सभी प्राणियों में मेरा साम्य-भाव है । किसी के साथ भी मेरा बैर नहीं है, मैं सम्पूर्ण आकांक्षाओं को छोड़कर, शुभ-परिणाम रूप समाधि को प्राप्त करता हूँ । सर्व आहार-विधि को, आहार आदि संज्ञाओं को, आकांक्षाओं और कषायों को तथा सम्पूर्ण ममत्व को भी मैं छोड़ता हूँ तथा सभी से क्षमा कराता हूँ ।

एदम्हि देशयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं ।

एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्ज ॥११२॥

अन्वयार्थ : यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस प्रत्याख्यान की समाप्ति करके मेरी पारना होगी ।

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज

उविंह च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं ॥११३॥

अन्वयार्थ : पेय पदार्थ को छोड़कर सम्पूर्ण आहार-विधि का मैं त्याग करता हूँ और मन-वचन-काय पूर्वक दोनों प्रकार की उपाधि का भी त्याग करता हूँ ।

जो कोई मज्झ उवही सभ्भंतवाहिरो य हवे

आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे ॥११४॥

अन्वयार्थ : जो कुछ भी मेरा अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह है, उसको तथा आहार और शरीर को मैं जीवन-भर के लिए छोड़ता हूँ ।

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं

तं सव्वजीवसरणं णंददु जिणसासणं सुइरं ॥११५॥

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी

जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥११६॥

अन्वयार्थ : जिसका आश्रय लेकर जीव अनन्त सन्सार-समुद्र को पार कर लेते हैं, सभी जीवों का शरण-भूत वह जिन-शासन चिरकाल तक वृद्धिगत होवे । अर्हन्तों की जो गति है और सिद्धों की जो गति है तथा वीत-मोह जीवों की जो गति है, वहीं गति मेरी सदा होवे ।

एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि

तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥११७॥

एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो

सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥११८॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण बिज्जदे दुक्खं

जम्मणमरणादंवं छिदि ममित्तं सरीरादो ॥११९॥

पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिक्कमणं
णाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवाय मुत्तमट्ठं च ॥१२०॥

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए ॥१२१॥

तेलोककपूयणीय अरहंते वंदिऊण तिविहेण
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥१२२॥

अन्वयार्थ : तीन लोक में पूज्य अर्हन्त भगवान को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करके अनुक्रम से संक्षेप रूप में समाचार कहूँगा ।

समदा सानाचारो सम्माचारो समो व आचारो
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥

अन्वयार्थ : समता समाचार, सम्यक आचार, सम आचार या सभी का समान आचार ये समाचार शब्द के चार अर्थ हैं ।

+ समाचार के लक्षण और उसके भेद -

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागी य ॥१२४॥

अन्वयार्थ : औघक समाचार और पदविभागिक समाचार ऐसे दो भेद हैं । औधिक समाचार के दस भेद हैं तथा पदविभागी के अनेक भेद हैं ।

+ औधिक समाचार के दश भेद -

इच्छा मिच्छाकारो तधाकारो व आसिआ णिसिही
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा ॥१२५॥

अन्वयार्थ : इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, निमन्त्रणा, उपसम्पत् ये दश भेद औधिक समाचार के हैं ।

+ दस समाचारों की परिभाषा -

इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे
पडिसुणणाहि तहत्तिय णिग्गमणे आसिया भणिया ॥१२६॥
पविसंते य णिसिही आपुच्छणियासकज्ज आरम्भे
साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठहि पडिपुच्छा ॥१२७॥

छंदणगहिदे दव्वे अगहिददव्वेणिमंतणा भणिदा तुह्यमहंतिगुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥

अन्वयार्थ : इष्ट विषय में इच्छाकार, उसी प्रकार अपराध में मिथ्याकार, प्रतिपादित के विषय में तथा 'ऐसा ही है' ऐसा कथन तथाकार और निकलने में आसिका का कथन किया गया है । प्रवेश करने में निषेधिका तथा अपने कार्य के आरम्भ में आपृच्छा करनी होती है । सहधर्मी साधु और गुरु से पूर्व में ली गई वस्तु को पुनः ग्रहण करने में प्रतिपृच्छा होती है । ग्रहण की हुई वस्तु में उसकी अनुकूलता रखना छन्दन है । अगृहीत द्रव्य के विषय में याचना करना निमन्त्रणा है और गुरु के संघ में 'मैं आपका हूँ' ऐसा आत्म-समर्पण करना उपसम्पत् कहा गया है । (ये दश भेद औधिक समाचार के हैं)

+ पदविभागी समाचार की प्रतिज्ञा -

औधियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥१२९॥

अन्वयार्थ : यह कहा गया दस प्रकार का औधिक समाचार जानना चाहिए । अब इसके बाद संक्षेप से पद-विभागी समाचार कहूंगा ।

+ पदविभागी समाचार -

उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥१३०॥

अन्वयार्थ : श्रमणगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं ऐसा यह पदविभागी समाचार है ।

+ इच्छाकार कब करते हैं ? -

संजमणाणुवकरण अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥

अन्वयार्थ : संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के माँगने में एवं योग ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए । तथा अन्य और जो परविषय अर्थात् औषधि आदि हैं उनके लिए या अन्य साधु शिष्य आदि के भी उपर्युक्त वस्तुओं में इच्छाकार करना चाहिए । सर्वत्र शुभ अनुष्ठान में परिणाम करना चाहिए ।

+ किस अपराध में मिथ्याकार होता है ? -

जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं भावेण य पडिवंत्तो तस्सभवे दुक्कडेमिच्छा ॥१३२॥

अन्वयार्थ : जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है, वह मिथ्या होवे पुनः उस दोष को करना नहीं चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है उसके दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है ।

+ तथाकार कब कहते हैं ? -

**वायणपडिच्छणाएउवदेसे सुत्तअत्थकहणाए
अवितहभेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥१३३॥**

अन्वयार्थ : गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में यह सत्य है ऐसा कहना और पुनः श्रवण इच्छा में तथाकार होता है ।

+ निषेधिका और आसिका कब करना चाहिए ? -

**वंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहियं कुज्जा
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥**

अन्वयार्थ : कंदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका करना चाहिए ।

+ आपृच्छा कब कहते हैं ? -

**आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा
विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा ॥१३५॥**

अन्वयार्थ : आतापन आदि के ग्रहण करने में, आहार आदि के लिए जाने में अथवा अन्य ग्राम आदि में जाने के लिए विनय से आचार्य आदि से पूछकर कार्य करना चाहिए ।

+ प्रतिपृच्छा कब करते हैं ? -

**जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरुआदी
पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा ॥१३६॥**

अन्वयार्थ : मुनियों को यदि कोई बड़े कार्य का अनुष्ठान करना है तो गुरु, प्रवर्तक, स्थविर आदि से एक बार पूछकर पुनरपि गुरुओं से तथा साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है ।

+ छन्दन समाचार कब करते हैं ? -

**गहिदुवकरणे विणए वदणसुत्तत्थपुच्छणादीसु
गणधरवसहादीणं अणुविंत्त छंदणिच्छाए ॥१३७॥**

अन्वयार्थ : संयम की रक्षा और ज्ञानादि के कारण ऐसे आचार्यों आदि के द्वारा दिये गये पिच्छी, पुस्तक आदि को लेने पर विनय के समय, वन्दना के समय, सूत्र के अर्थ का प्रश्न आदि करने में आचार्य आदि की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन नामक समाचार है ।

+ निमन्त्रणा समाचार कब करते हैं ? -

**गुरुसाहमियदव्वं पुच्छयमणं च गेणिहदुं इच्छे
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥१३८॥**

अन्वयार्थ : गुरु और अन्य संघस्थ साधुओं से यदि पुस्तक या कमण्डल आदि लेने की इच्छा हो तो नम्रतापूर्वक पुनः उनकी याचना करना अर्थात् पहले कोई वस्तु उनसे लेकर पुनः कार्य हो जाने पर वापस दे दी है और पुनः आवश्यकता पड़ने पर याचना करना सो निमन्त्रणा है ।

+ उपसंपत् का स्वरूप और उनके भेद बताइए ? -

**उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेहिं णिद्धिद्वा
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य ॥१३९॥**

अन्वयार्थ : उपसंपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना। गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना उपसंवत् है जो कि विनय आदि के विषय में किया जाता है इसलिए इसके पाँच भेद हैं -- विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसम्पत्, मार्गोपसंपत्, सुख-दुःखोपसम्पत् और सूत्रोपसंपत् ।

+ विनयोपसंपत् किस प्रकार कहते हैं ? -

**पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा
दाणाणुवत्तवादीं विणये उपसंपया णेया ॥१४०॥**

अन्वयार्थ : आगन्तुक साधु को प्राहूणिक या पादोष्ण कहते हैं । उनका अंगमर्दन करना, प्रिय वचन बोलना आदि विनय है । उन्हें आसन आदि देना उपचार है ।

+ क्षेत्रोपसंपत् का स्वरूप -

**संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जहिं खेतहिं
वड्ढंति तहिं वासो खेत्ते उवसंपया णेया ॥१४१॥**

अन्वयार्थ : जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में निवास करना यह क्षेत्रोपसंपत् है ।

+ मार्गोपसंपत् का स्वरूप -

**पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा
उपसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं ॥१४२॥**

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक साधु किसी संघ में आये हैं तो वे साधु और अपने वसतिका स्थान आदि में ठहरे हुए साधु आपस में एक दूसरे से मार्ग के आने जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् 'आपका विहार सुख से हुआ है न ? 'आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे हैं न ?' इत्यादि मार्ग विषयक सुख समाचार पूछना मार्गोपसंपत् है । आगन्तुक साधु-जो संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित हैं ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे हैं तो वे आगन्तुक साधु कहलाते हैं ।

+ सुखदुःखोपसंपत् का स्वरूप -

सुहृदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं तुहं अहंति वयणं सुहृदुक्खुवसंपया णेया ॥१४३॥

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक साधु सुखी है और उन्हें यदि मार्ग में शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हें उनके लिए उपयोगी पिच्छी कमण्डलु आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दुःखी है, व्याधि आदि से पीड़ित हैं तो उनके लिए सुखप्रद शय्या संस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके हाथ-पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना । 'मैं आपका ही हूँ' आप जो आदेश करेंगे वह सब हम करेंगे' अथवा जों यह सब मेरा है वह सब आपका ही है ऐसे वचन बोलना यह सब सुखदुःखोपसंपत् है ।

+ सूत्रोपसंपत् का स्वरूप -

उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव एक्केक्का विय तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥१४४॥

अन्वयार्थ : सूत्र विषयक उपसंपत् तीन प्रकार का है । सूत्रोपसंपत् अर्थोपसंपत् और सूत्रार्थोपसंपत् । सूत्रपठन में प्रयत्न करना यह सूत्रोपसंपत् है । अर्थग्रहण करने में प्रयत्न करना अर्थोपसंपत् है । सूत्र और अर्थ का अर्थात् दोनों का ग्रहण करना उभयसंपत् अर्थात् सूत्रार्थोपसंपत् है । इन तीन उपसंपत् के तीन-तीन भेद हैं । अर्थात् सूत्रोपसंपत् के तीन भेद हैं । अर्थोपसंपत् के तीन भेद हैं तथा सूत्रार्थोपसंपत् के तीन भेद हैं ।

+ पदविभागी समाचार -

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥१४५॥

अन्वयार्थ : कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर, अन्य शास्त्र पढ़ने हेतु, अन्य संघ गमनार्थ विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है ।

+ शिष्य गुरु से क्या पूछता है ? -

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं तिण्णि व पंच व छावा पुच्छाओ एत्थ सो कुणई ॥१४६॥

अन्वयार्थ : मुनि अपने आचार्य से प्रार्थना करता है, 'हे भगवन् ! आपके चरण कमलों की प्रसन्नता से, आपकी आज्ञा से अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ ।

+ शिष्य मुनि अपने साथ कितने मुनियों के साथ विहार करता है ? -

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदी ॥१४७॥

अन्वयार्थ : गुरु से पूछकर अपने पूज्य गुरु से आज्ञा लेकर वह मुनि अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है । उत्कृष्ट रूप से चार मुनि मिलकर विहार करते हैं । मध्यम रूप से तीन मुनि और जघन्य रूप से दो मुनि मिलकर विहार करते हैं ।

+ विहार के भेद -

**गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥१४८॥**

अन्वयार्थ : विहार के दो भेद है-गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ । जो जीवादि पदार्थों के ज्ञाता महासाधु देशांतर में गमन करते हुए चारित्र का अनुष्ठान करते हैं उनका विहार गृहीतार्थ नाम का विहार है तथा जो अल्पज्ञानी चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते हैं उनका विहार अगृहीतार्थ नाम का विहार है ।

+ एकल विहारी साधु -

**तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य
पवियाआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४९॥**

अन्वयार्थ : जो तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव तथा उत्तम संहनन और धैर्य गुणों से परिपूर्ण हैं, इतना ही नहीं, दीक्षा से, आगम से भी बलवान हैं अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध हैं (अधिक तपस्वी हैं), आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में भी अक्षुण्ण (निष्णात) हैं । अर्थात् आचार ग्रंथों के अनुकूल चर्या में निपुण हैं ऐसे गुण-विशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्र देव ने एकलविहारी होने की अनुमति दी है ।

+ स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए क्या आज्ञा है ? -

**स्वच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्षवोसरणे
स्वच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥१५०॥**

अन्वयार्थ : आहार, विहार, नीहार, उठना, बैठना, सोना और किसी वस्तु को उठाना या धरना इन सभी कार्यों में जो आगम के विरुद्ध मनमानी प्रवृत्ति करता है ऐसा कोई भी, मेरा शत्रु ही क्यों न हो, अकेला न रहें, मुनि की जो बात ही क्या है। उन्हें तो हमेशा गुरुओं के संघ में ही रहना चाहिए ।

+ स्वच्छन्द प्रवृत्ति में दोष -

**गुरु परिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलक्षा जडदा
भिभंलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥१५१॥**

अन्वयार्थ : स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में १. गुरु की निन्दा, २. श्रुत का विनाश, ३. तीर्थ की मलिनता, ४. मूढ़ता, ५. आकुलता, ६. कुशीलता, ७. पाश्र्वस्थता ये दोष आते हैं ।

+ एकल विहार में और भी अनेक दोष -

**वंऽटयखण्णुय पडिणिय साणगोणादि सप्पमेच्छेहिं
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥१५२॥**

अन्वयार्थ : कांटे, ठूठ विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथ सर्प और मलेच्छा-अज्ञानी जनों से, विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने आप में विपत्ति को प्राप्त कर लेता है ।

+ स्वच्छंदी मुनि गुरुकुल में गच्छ में भी अन्य मुनि के साथ रहना चाहते हैं या नहीं ? -

**गारविओ सिद्धी ओ माइल्लो अलसलुद्ध णिद्धम्मो
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥१५३॥**

अन्वयार्थ : जो गारव से सहित है, आहार से लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है ऐसा शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता है । क्योंकि मेरे सर्व-दोष प्रगट होंगे ऐसा समझकर स्वतंत्र रहना चाहता है ।

+ एकल विहार में अन्य पापस्थान -

**आणाअणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा ॥१५४॥**

अन्वयार्थ : अकेले विहार करने से निम्न पाँच पापस्थान और दोष आते हैं । १. सर्वज्ञ जिनेश्वर के शासन का उल्लंघन होता है । २. अनवस्था दोष-स्वच्छंद मुनि का आचरण देखकर अन्य मुनि भी उसके समान आचरण करेंगे । ३. मिथ्यात्व का सेवन, ४. आत्मनाश, ५. संयम विराधना ।

+ किस गुरुकुल में रहना उचित -

**तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥**

अन्वयार्थ : जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार हैं वहाँ रहना उचित है और जहाँ ये पाँच आधार नहीं हैं वहाँ रहना उचित नहीं है ।

+ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का स्वरूप -

**सिस्साणुगहकुसलो धम्मवदेसो य संघवट्टवओ
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥१५६॥**

अन्वयार्थ : शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल तथा जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं । धर्म के उपदेशक तथा जिनके पास आकर अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहते हैं । संघ की प्रवृत्ति करने वाले को प्रवर्तक कहते हैं । मर्यादा के उपदेशक को और जिनसे आचरण स्थिर होते हैं उन्हें स्थविर कहते हैं । गण के रक्षक और गण को धारण करने वाले को गणधर कहते हैं ।

+ विहार करते हुए पुस्तक या शिष्य को ग्रहण करने के लिए कौन योग्य हैं ? -

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥१५७॥

अन्वयार्थ : मुनि को विहार करते हुए मार्ग के गाँवों में जो कुछ भी द्रव्य सचित्त-छात्र आदि, अचित्त-पुस्तक और मिश्र-पुस्तक आदि से सहित शिष्य आदि मिलते हैं उन सब द्रव्य के स्वामी आचार्य होते हैं ।

+ आचार्य के गुण -

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो ये ॥१५८॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरु धम्मप्पहावणासीलो
खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥१५९॥

अन्वयार्थ : आचार्य संग्रह और अनुग्रह में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, किर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, क्रिया और चरित्र में तत्पर और ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाले होते हैं । जो गंभीर हैं, दुर्धर्ष हैं, शूर हैं और धर्म की प्रभावना करने वाले हैं, पृथ्वी, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश हैं ।

+ आगंतुक पर-संघ मुनि के लिए आदरविधि -

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठं ति ॥१६०॥

अन्वयार्थ : पर संघ से प्रयास कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर संघ के सभी मुनि उठकर खड़े हो जाते हैं । किसलिए ? मुनि के प्रति वात्सल्य के लिए, सर्वज्ञ देव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगन्तुक साधु को अपनाने के लिए और उनको प्रणाम करने के लिए वे संयत तत्क्षण खड़े हो जाते हैं ।

+ संघस्थ साधु और क्या करते हैं ? -

पच्चुगमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥१६१॥

अन्वयार्थ : वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति रत्नत्रय की कुशलता पूछें ।

+ संघस्थ साधु किस प्रकार से और कितने दिन तक सहयोग दें ? -

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडयो दु दायव्वो
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेउं ॥१६२॥

अन्वयार्थ : आए हुए मुनि को तीन दिवसपर्यन्त नियम से स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमणादिक क्रियाओं में एक साथ रहकर सहाय देना चाहिए । षडावश्यक क्रिया, आहार, निहार-शौच को जाना क्रियाओं में सहाय करना चाहिए ।

+ आगन्तुक मुनि और वास्तव्य मुनि की आपस में चर्या -

**आगंतुयवत्यव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥१६३॥**

अन्वयार्थ : आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओं के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर में एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र को जानने के लिए परीक्षा करते हैं ।

+ किन-किन स्थानों में परीक्षा करते हैं ? -

**आवासयठाणदिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥१६४॥**

अन्वयार्थ : छह आवश्यक क्रिया आदि के कायोत्सर्ग आदि प्रसंगों में, किसी वस्तु को चक्षु इन्द्रिय से देखकर पुनः पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करते हैं या नहीं करते ।

+ आगन्तुक मुनि का आचार्य श्री से निवेदन -

**विस्समिदो तद्विवसं मीमांसित्ता णिवेदयदि गणिणे
विणएणागमकज्जं बिदिए तदिए व दिवसमि ॥१६५॥**

अन्वयार्थ : आगन्तुक मुनि उस दिन विश्रांति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास अपने विद्या अध्ययन हेतु आगमन के कार्य को निवेदन करते हैं ।

+ आचार्य द्वारा आगन्तुक मुनि से प्रश्न -

**आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥१६६॥**

अन्वयार्थ : तुम्हारो नाम क्या है ? तुम्हारी कुल-गुरु परम्परा कहा है ? तुम्हारे गुरु कौन हैं ? तुम्हें दीक्षा लिये कितने दिन हुए हैं ? तुमने वर्षायोग कितने और कहाँ-कहाँ किये हैं ?

+ उत्तर सुनकर आचार्य क्या कहते हैं ? -

**जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥**

अन्वयार्थ : यदि आगन्तुक मुनि चारित्र और क्रियाओं में शुद्ध है, नित्य ही उद्यमशील है अर्थात् अतिचार रहित आचरण वाला है, विनयी और बुद्धिमान है तो वह जो पढ़ना चाहता है उसे संघ में स्वीकार करके उसे उसकी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए ।

+ अनुकूल आगन्तुक मुनि का आगे क्या करना चाहिए ? -

एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगहिदो
सुत्तत्थं सिवखंतो एवं कुज्जा पयत्तेण ॥१६९॥
पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य
विणयउवयार जुत्तेणज्झेदव्वं पयत्तेण ॥१७०॥

अन्वयार्थ : उपर्युक्त विधि से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण कराते हुए अध्ययन करावें । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्न-पूर्वक अध्ययन करना चाहिए ।

+ द्रव्यादि अशुद्धिपूर्वक स्वाध्याय से हानि -

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थ सिक्खलोहेण
असमाहिमसज्झायं कलहं वाहिं वियोगं च ॥१७१॥

अन्वयार्थ : यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होने वाला आत्म संस्कार रूप ज्ञान, उसके लोभ से / आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि को उल्लंघन करके पढ़ता है तो १. असमाधि (सम्यक्त्व आदि की विराधना) २. अस्वाध्याय (शास्त्रादि का अलाभ) ३. कलह (आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह अथवा अन्य के साथ) ४. रोग (ज्वर, खांसी, श्वास, भगंदर आदि) ५. वियोग (आचार्य और शिष्य के एक जगह नहीं रह सकना) ।

+ जीव दया के निमित्त शुद्धि -

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥१७२॥

अन्वयार्थ : हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में दोनों काल में यत्न-पूर्वक संस्तर और स्थान आदि का प्रतिलेखन करना चाहिए ।

+ आगन्तुक मुनि का पर-गण में अनुशासन -

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकलज्जआरम्भे
इच्छाकारणिजुत्तो आपुच्छा होइ कायव्वा ॥१७३॥

अन्वयार्थ : किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने में, मल-मूत्रादि त्याग के लिए जाते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ में और भी किन्हीं क्रियाओं के आदि में आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करते हैं ।

+ आगन्तुक मुनि को पर-गण में वैयावृत्ति -

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरु बालबुद्धसेहाणं जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेणं ॥१७४॥

अन्वयार्थ : पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न-पूर्वक यथा-योग्य वैयावृत्ति करनी चाहिए ।

+ आगन्तुक मुनि द्वारा वन्दना आदि क्रियाएँ -

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु रिसिदेववन्दणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥१७५॥

अन्वयार्थ : दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण क्रियाओं में गुरु-वन्दना और देव-वन्दना आदि के साथ ही मिलकर करना चाहिए ।

+ शोधन कहाँ करना चाहिए ? -

मणवयणकायजोगेणुप्पणवराध जस्स गच्छम्मि मिच्छाकारं किच्चा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥१७६॥

अन्वयार्थ : जिस गच्छ गण या चतुर्विध-संघ में व्रतादिकों में अतिचार रूप अपराध हुआ है उसी संघ में उस मुनि को मिथ्याकार पश्चात्ताप करके अपने अंतरंग से वह दोष निकाल देना चाहिए अथवा जिस किसी के साथ अपराध हो गया हो, उन्हीं से क्षमा कराके उस अपराध से अपने को दूर करना होता है ।

+ आर्यिकाओं के साथ बोलना या बैठना है या नहीं ? -

अज्जागमणो काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७॥ तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं ॥१७८॥

अन्वयार्थ : आर्यिका और स्त्रियों के आने के काल में उस मुनि को एकान्त में अकेले नहीं बैठना चाहिए और उसी प्रकार से उन आर्यिकाओं और स्त्रियों के साथ अकारण बहुलता से वचनालाप भी नहीं करना चाहिए । कदाचित् धर्म कार्य के प्रसंग में बोलना ठीक भी है। आर्यिकाओं के प्रश्न कार्यों में यदि एकाकिनी आर्यिका है तो एकाकी मुनि अपवाद के भय से उन्हें उत्तर न देवें । यदि वह आर्यिका अपने संघ की प्रधान आर्यिका गणिनी को आगे करके कुछ पूछे तो इस विधान से उन्हें मार्ग प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रतिपादन करना चाहिए अन्यथा नहीं ।

+ तरुण आर्यिका के साथ वचनालाप में दोष -

**तरुणों तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥१७९॥**

अन्वयार्थ : तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों को करता है ।

+ आर्यिकाएं के साथ आवास आदि क्रिया में दोष -

**णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयहि चिट्ठेदुं
तत्थ णिसेज्जउवट्ठणसज्झायाहारभिक्षवोसरणं ॥१८०॥**

अन्वयार्थ : आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कायोत्सर्ग करना युक्त नहीं है ।

+ आर्यिकाओं के साथ संसर्ग में दोष -

**थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुदं च तवसिं वा
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥**

अन्वयार्थ : आठ गुण सहित सिद्धों को, नव केवल लब्धि युक्त अरिहंतों को, केवलज्ञान की ऋद्धि काम से मलिन-चित्त श्रमण स्थविर, चिर-दीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नहीं गिनता है, कुल का भी विनाश कर देता है ।

+ और भी किन-किन के साथ वार्तालाप न करें -

**कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सिंलगं वा
अचिरेणाल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥**

अन्वयार्थ : मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमें अपवाद को प्राप्त हो जाता है ।

+ आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कैसे होंगे ? -

**पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥**

**गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥**

अन्वयार्थ : जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग-भाव सहित हैं, पाप से भीरू हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पाप-क्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं । गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिर-दीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं ।

+ गुण-रहित आचार्य द्वारा आर्यिकाओं का गणधर बनाने का निषेध -

**एवं गुणवदिरित्तो यदि गणधारित्तं करंदि अज्जाणं
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥१८५॥**

अन्वयार्थ : उपर्युक्त गुणों से रहित मुनि, आचार्य यदि आर्यिकाओं का प्रतिक्रमण आदि सुनकर उन्हें प्रायश्चित आदि देने रूप गणधरत्व करता है तो उसके चार कालों (गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ अथवा दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल और आत्म-संस्कार) की विराधना हो जाती है ।

+ परगणस्थ आगंतुक मुनि को क्या करना चाहिए ? -

**कबहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥१८६॥**

अन्वयार्थ : बहुत कहने से क्या, पर-गण में स्थित मुनि को, उन आचार्य को जो इष्ट है सभी प्रकार से वही करना चाहिए । यही विधि शेष मुनियों के लिए भी है ।

+ आर्यिकाओं के लिए क्या आदेश है ? -

**एसो अज्जाणांपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं
सव्वहि अहोरत्ते विभासिदव्वोजण्धाजोगं ॥१८७॥**

अन्वयार्थ : पूर्व में जैसा समाचार कहा गया है वैसे ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए । वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए ।

+ आर्यिकाएँ वसतिका में अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती हैं ? -

**अण्णोण्णणुवूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ॥१८८॥
अज्झयणे परियट्ठे सवणे कहणे तहाणुपेहाए
तवविणयसंजमेसु ये अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ ॥१८९॥**

अन्वयार्थ : परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल और परस्पर में एक दूसरे की रक्षा में तत्पर, क्रोध, वैर और मायाचार से रहित तथा लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से सहित रहती हैं । पढ़ने में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में, तथा तप में, विनय में और संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं ।

+ आर्यिकाओं के वस्त्र कैसे होते हैं ? -

**अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१९०॥**

अन्वयार्थ : विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीना-युक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई वे शरीर-संस्कार से शून्य रहती हैं । धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती हैं ।

+ आर्यिकाएँ अपने आवास में कैसे रहती हैं ? -

**अगिहत्थमिस्सणिलए असिण्णवाए विसुद्धसंचारे
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१९१॥**

अन्वयार्थ : जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध-संचरण के योग्य ऐसी वसतिका में दो या तीन या बहुत-सी आर्यिकाएँ साथ रहती हैं ।

+ आर्यिकाएँ परगृह में जा सकती हैं ? -

**ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१९२॥**

अन्वयार्थ : आर्यिकाओं के लिए गृहस्थ के घर और यतिओं की वसतिकाएँ पर-गृह हैं । बिना प्रयोजन के आर्यिकाएँ पर-गृह में न जायें ।

+ आर्यिकाओं द्वारा निषिद्ध क्रियायें -

**रोदणणहावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे
विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥१९३॥**

अन्वयार्थ : रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन बनाना छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियों के पैर में मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यों को नहीं करें ।

+ आर्यिकाएँ आहार के लिए कैसे निकलती हैं ? -

**तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्ण रक्खाओ
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥**

अन्वयार्थ : तीन या पाँच या सात आर्यिकाएँ आपस में रक्षा में तत्पर होती हुई वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर हमेशा आहार के लिए निकलती हैं ।

+ आचार्य आदि की वन्दना आर्यिकाएँ किस प्रकार करती हैं ? -

**पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥**

अन्वयार्थ : आर्यिकाएँ आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वन्दना करती हैं ।

+ समाचार पालन करने का फल -

**एवंविधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥१९६॥**

अन्वयार्थ : उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं वे जगत में पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं ।

+ ग्रंथकर्ता द्वारा निवेदन -

**एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण
वित्थारसमावण्णो वत्थरिदव्वो बहुजणेहिं ॥१९७॥**

अन्वयार्थ : एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण
वित्थारसमावण्णो वत्थरिदव्वो बहुजणेहिं ॥१९७॥

श्री श्रुतस्कन्ध यन्त्र

णमो अरिहताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

